प्राचीनकाल से वर्तमान तक लिपि

डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा
पाण्डुलिपि एवं लिपि विशेषज्ञ
अध्येता - पं. मधुसूदन ओझा साहित्य
समन्वयक - वैदिक हैरिटेज एवं पाण्डुलिपि शोध संस्थान
राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर

विश्व पुस्तकालय में वेद का कालक्रम में प्रथम स्थान सर्वसम्मत रूप से स्वीकार किया जाता है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि यह स्वीकार करते हुए भी लिपि तथा अङ्कों को इतना प्राचीन नहीं माना जाता है तथा इनका परवर्ती विकास मानकर कालज्ञान के ऐतिह्य अनुसन्धान में विश्व भर के मनीषी लगे हुए हैं एवं भिन्न-भिन्न स्थापनाओं से विषय की अनिर्णीत जटिलता का जाल सा बुन रहे हैं। ऐसा लगता है कि इसके सहवर्ती अन्यान्य भी कारण हैं ही किन्तु प्रमुख कारण वेद के वास्तविक स्वरूप से परिचित न होना है विशेषकर वेद के दूसरे प्रसिद्ध नाम श्रुति का यथार्थ भाव न समझना है।

श्रुति-स्मृति का स्वरूप

वेद के श्रुति नाम से विद्वानों में चिरकाल से एक भ्रान्त धारणा घर किये हुए है कि आरम्भ में वेदज्ञान की परम्परा मौखिक आधार पर चलती रही है अतः वेद को श्रुति कहा जाता था। परन्तु प्राच्यविद्या मनीषी पण्डित अनन्त शर्मा जी ने अपने अनुसंधान से सभी भ्रान्तियो को दूर कर दिया उनका कालानुसंधान नवीन आयाम् स्थापित करने में सहायक हो रहा है। चिरकाल पश्चात् जब लिपि का आविष्कार हुआ और वेद लिपिबद्ध किये गये तथापि पुराना नाम श्रुति जो वर्षों तक प्रसिद्ध रहा, चलता रहा, आज भी व्यवहार में है। भले ही आज पढ़ना-पढ़ाना पुस्तकों के माध्यम से है तथापि श्रुति नाम इस ऐतिह्य तथ्य का तो प्रमाण है ही कि वेदों के आविर्भाव से लेकर अत्यन्त परवर्ती काल तक इस देश में लिपि का अस्तित्व नहीं था।

वस्तुतः यह विचार उपयुक्त नहीं है। श्रुति स्मृति शब्दों का जो अर्थ लिया जा रहा है वह वास्तविक अर्थ नहीं है। श्रुति और स्मृति शब्द ज्ञान के प्रकार को बताने वाले शब्द हैं। अनुभूति का अनुभवकर्ता द्वारा प्रकाशन श्रुति है तथा श्रोता द्वारा उसका कथन स्मृति है।

सृष्टि वेद है। इसके धारक तत्त्वों का नाम धर्म है। धर्म का साक्षात्कार करने वाला अर्थात् धर्म का साक्षाद् द्रष्टा ऋषि है। इस अनुभूति का वाचिक प्रकाशन श्रुति है क्योंकि इसका अन्य व्यक्ति में संक्रमण श्रुति-श्रवण के माध्यम से हुआ है। इसी को पारिभाषिक रूप में कहा जाए तो स्वरूप या लक्षण होगा- **'द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः'** अर्थात् द्रष्टा का वाक्य श्रुति है। ऐसे आप्त द्रष्टा की इस अनुभूति के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती है। यही श्रुति अथवा वेद की स्वतः प्रमाणता है।

श्रुति के विषय को श्रोता किसी अन्य को बताना चाहेगा तो उस समय उसका आधार स्मृति ही होगा। अतः श्रोता का कथन स्मृति है। इसे ही **'श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः'** अर्थात् श्रोता का वाक्य स्मृति है, के रूप में कहा गया है। यही कारण है कि स्मृति सदैव परतः प्रमाण है। श्रोता अर्थात् स्मृति रूप में श्रुति का वक्ता सदैव अपनी प्रामाणिकता के लिये यही कहता है कि अमुक ने मुझे ऐसा कहा था। स्पष्ट है कि श्रुति का मूल अनुभूति है तथा स्मृति का मूल वह श्रुति है जिसे श्रोता ने स्मृति में आत्मसात् कर लिया है। दोनों का विषय एक ही है किन्तु एक का आधार अनुभूति है दूसरे का आधार स्मृति है। अनुभूति का सम्बन्ध हृदय से तथा स्मृति का सम्बन्ध मस्तिष्क से है।

वर्तमान काल के उदाहरण से इसे स्पष्ट करना चाहें तो गुरुत्वाकर्षण और सापेक्षता को ले सकते हैं जिनके ऋषि क्रमशः न्यूटन और आईंस्टीन हैं। अपनी साक्षात्कृत अनुभूति को प्रकाशित करने वाले इनके वाक्य 'श्रुति' हैं, इस अभिव्यक्ति का आधार स्मृति नहीं अपितु दर्शन है। विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा इनके वाक्यों का व्याख्या सहित अथवा व्याख्या रहित संक्षिप्त अथवा व्यास कथन स्मृति है।

यही कारण है कि परवर्ती सभी प्रकार का सम्पूर्ण वाङ्मय स्मृति की कोटि में आता है, श्रुति केवल वेद है। हमें अपने मन मस्तिष्क से यह भ्रम निकाल देना चाहिये कि धर्म सम्बन्धी विधि विधानों के बताने वाले शास्त्र ही स्मृति हैं। आयुर्वेद, व्याकरण, रामायण, महाभारत आदि सभी को प्राचीन विद्वान् स्मृति कहते हैं। कुछ उद्धरण इसे स्पष्ट करने की दृष्टि से प्रस्तुत हैं-

आचार्य वाग्भट अष्टांग हृदय के सूत्रस्थान में आयुर्वेद के विषय में कहते हैं-

ब्रह्मा स्मृत्वायुषो वेदं, प्रजापतिमजिग्रहत्।
सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं, सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्॥
तेऽग्निवेशादिकान् ते तु, पृथक् तन्त्राणि चक्रिरे॥१/३

ब्रह्मा ने आयु के वेद का स्मरण कर प्रजापति दक्ष को उसे ग्रहण करवाया, प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को दिया, उन्होंने यह ज्ञान इन्द्र को दिया। इन्द्र ने यह अत्रिपुत्र-आत्रेय आदि मुनियों को दिया, उन्होंने अग्निवेश आदि को दिया, इन लोगों ने पृथक् पृथक् तन्त्र बनाये।

वेदज्ञों के अलंकार महामनीषी भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में व्याकरण को अनेक बार स्मृति कहा है।

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्॥ (ब्रह्मकाण्ड१.१४२)

यह व्याकरण रूप स्मृति शब्दों के साधुत्व ज्ञान के लिये है। शिष्टों द्वारा इस स्मृति का निबन्धन एक अविच्छिन्न परम्परा से किया गया है।

भगवान् आद्य शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों के अपने भाष्यों में रामायण, महाभारत आदि सभी ग्रन्थों को सैकड़ों बार स्मृति कहा है। ब्रह्मसूत्रभाष्य से गीता के विषय में उनके दो तीन उद्धरण निम्नलिखित रूप में हैं:-

एतद्बद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत (गीता १५.२०)
इति च स्मृतिः। १.१.४
स्मृतिरपि च 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा (गीता २.५४) इत्याद्या/१.१.४

इस प्रकार वेद (और आचार्य शंकर आदि की दृष्टि से ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि) तथा वेदेतर समस्त वाङ्मय क्रमशः श्रुति और स्मृति भागों में विभक्त है। यह भी स्पष्ट है कि वेद का श्रुति नाम अनुभूति वेदना-के साक्षात्कार के कथन के कारण है न कि सुनने-सुनाने की परम्परा के कारण है।

ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि सुनने सुनाने की परम्परा से श्रुति नाम की सत्ता मानने वालों ने कभी तर्क का आश्रय भी नहीं लिया। लिपि के अभाव में जैसे वैदिक संहिताओं का अध्ययन अध्यापन मौखिक होता था वैसे ही ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और वेदांगों का भी अध्ययन मौखिक ही होता था। इसी भाँति आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि सभी विषयों का भी गुरु परम्परा से मौखिक अध्ययन होता था तो केवल वेद को ही श्रुतिनाम क्यों दिया गया ? इन अन्य विषयों को श्रुति क्यों नहीं कहा गया? कण्ठस्थ तो सभी शास्त्रों को किया जाता था तथा कण्ठस्थ विषयों को ही आचार्य शिष्यों को पढ़ाता था, वेद भी कण्ठस्थ ही पढ़े-पढ़ाये जाते थे, ऐसी स्थिति में वेद को स्मृति क्यों नहीं कहा गया ? सभी शास्त्रों को छोड़कर धर्मशास्त्रों को ही स्मृति क्यों कहा जाता है? यदि कभी इस प्रकार का तार्किक चिन्तन होता तो स्पष्ट हो जाता कि श्रुति स्मृति नाम किसके और क्यों

रखे गये। भगवान् स्वायम्भुव मनु ने स्पष्ट कहा है-

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः। कुछ ऐसा भी प्रवाद प्रचलित है कि वेद के क्षेत्र में तर्क की गति नहीं है अतः वेदार्थ में तर्क नहीं करना चाहिये। यह निर्मूल मिथ्या विचार है। निरुक्त के प्रवक्ता महर्षि यास्क तर्क को ऋषि मानते हैं, अनूचान का तर्कसम्मत कथन पूर्णतया आर्ष होता है। निरुक्त में यह सुस्पष्ट कथन है-

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्। मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति। १३.१२

देवयुग की समाप्ति पर जब ऋषि धीरे-धीरे धरती से उठते जा रहे थे तब मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब हमारा ऋषि क्रान्तदृष्टि सम्पन्न ज्ञानी कौन होगा। उन्होंने मनुष्यों को यह 'तर्क ऋषि' दिया। मन्त्रार्थ चिन्तन में सर्वदिक् ऊह करना ही तर्क है। अतः जो कुछ भी अनूचान षडंगवित् ऊहा द्वारा प्रकट करता है वह सब कुछ आर्ष होता है। वस्तुतः ऊहापोह समर्थ विद्वान् का चिन्तन ही शास्त्रतत्त्वदर्शन का मूल होता है, उद्धरणों की संख्या का अम्बार नहीं। दुर्भाग्य है कि वर्तमान में इसी का बाहुल्य है जो सूचीपाण्डित्य का विस्तारक है। उसी का फल है कि श्रुति से लिपि का सम्बन्ध विच्छेद कर दिया गया।

वेदमन्त्र आदि से ही लिपिबद्ध

वेदमन्त्रों का अध्ययन करने से इनसे लिपि के अस्तित्व का बोध ही नहीं होता अपि तु इनकी लिपिबद्धता का तथा लिपि के विभिन्न प्रकारों का भी स्पष्ट ज्ञान होता है एवं यह परवर्ती वाङ्मय से समर्थित भी होता है।

ऋग्वेद का एक मन्त्र है जो यास्क द्वारा निरुक्त में व्याख्यात भी है:-

उत त्वः पश्यन्न ददर्शवाच मुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विससे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।। (१०.७१.४)

कोई एक वेदवाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है। कोई एक सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। सुवासाः प्रकृति प्रत्यय आदि अवयव स्तम्भों से सुस्थित-उशती-वेदवाणी-एक के लिए अपने तनु को-शब्दात्मक बाह्य रूप तथा भावात्मक आन्तरिक स्वरूप अर्थ आदि मर्म विस्तार को पूरी तरह वैसे ही प्रकट कर देती है जैसे सुवासाः वेशभूषादि से अलंकृत पतिपरायणा विदुषी स्त्री पति के लिए कोई गोपन न रखकर सब कुछ प्रकट कर देती है। इसी से उसका जायात्व-जन्मदातृत्व-सफल है। यही वाणी का फलना-फूलना है।

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि यह लिपिबद्ध वाणी का वर्णन है। इसके बिना वाणी का दर्शन सम्भव नहीं है। भाषा के इस लिखित रूप को देख तो सभी सकते हैं किन्तु यथार्थ दर्शन अर्थात् दर्शन का प्रयोजन अर्थज्ञान सबके लिए सम्भव नहीं है जब तक भाषा के लिपिगत बाह्य रूप से तथा भाषाज्ञानरूप तदपेक्षया आन्तर रूप से परिचय न हो।

यदि वैदिक विद्वान् देवनागरी लिपि से परिचित है किन्तु मलयालम, बंगला, रोमन ग्रन्थ और शारदा आदि से वह सर्वथा अपरिचित है तो सामने लिखे या मुद्रित उस वेदमन्त्र को भी यह वेदमन्त्र है इस रूप में नहीं जान सकेगा जिसका वह मर्मज्ञ है। यह देखते हुए भी न देखना है, इसे ही लोक आभाणक 'काला अक्षर भैंस बराबर' के द्वारा व्यक्त किया गया है।

मलयालम भाषा में पूर्ण निष्णात किन्तु संस्कृत और वेद से अपरिचित मलयालम लिपि में अभिव्यक्त वेद मन्त्र को अक्षर योजना कर पढ़ लेगा किन्तु पढ़कर भी वह यह जानने में असमर्थ ही रहेगा कि उसने क्या पढ़ा है। यह भी देखकर भी न देख पाता है। दोनों ही प्रकारों का सम्बन्ध लिपि से है।

मन्त्र का द्वितीय पाद ध्वनि के रूप को लेकर है। सुनते हुए भी न सुनना, श्रव्य सीमा में आने वाली ध्वनि अवश्य ही कानों में जायेगी, यह सुनना है। यदि भाषा के साथ परिचय नहीं है तो वह ध्वनि पद वाक्य का रूप नहीं ले सकेगी, ऐसा सुनना सुनना नहीं है यही भाषा का सुनते हुए भी न सुनना है।

श्रवण के साथ पठित दर्शन निर्विवाद रूप से भाषा के लिखित रूप का ही बोधक है। श्रवण के पूर्व दर्शन का स्थान लिपि की प्राथमिकता के महत्त्व का बोधक है। यह ध्यान रखा जाये कि दर्शन यहाँ विशुद्ध चाक्षुष सम्बन्ध को बता रहा है योग अथवा समाधि आदि का दर्शन यहाँ तनिक भी अभिप्रेत नहीं है। योगी का दर्शन अमोघ होता है अतः उसके दर्शन को अदर्शन कहना न केवल निरर्थक ही है अपितु मूढ़ता की पराकाष्ठा है जो वेदमन्त्र के विषय में सोचना भी महापाप है। मन्त्र का उत्तर भाग ज्ञानी की प्रशंसा में चरितार्थ है। जो अनेक लिपियों का वेत्ता है, वेदज्ञ है उसके लिए दर्शन और श्रवण मार्ग से वाणी गन्तव्य है उस बहुश्रुत के लिए कुछ भी गोपनीय नहीं है।

इस एक मन्त्र से वेद का अनेक लिपियों में लिपिबद्ध होना भी व्यञ्जित है। वेद जब यहाँ के जन समुदाय को विवाचाः और नाना धर्मा कहता है तो उस विवाचस्त्व को लिपिगत अनेकता के रूप में क्यों नहीं लिया जा सकता है? अथर्ववेद पृथिवी सूक्त का यह मन्त्र देखिये :-

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरपनस्फुरन्ती ।। (१२.१.४५)

यह पृथिवी भवन की भाँति अनेक वाक् और नाना धर्म से सम्पन्न जनसमूह को विविधरूपों में धारण करती है। शान्त और दृढ धेनु जैसी यह भूमि मेरे लिए द्रविण की धाराओं का दोहन करे।

यहाँ विवाचसम् में वि विविध और विशिष्ट अर्थ में है। वाक् यदि इन्द्रिय अर्थ में है तो उच्चारण के विभिन्न भेदों का ग्रहण होता है, कोई मधुर, कोई कर्कश, कोई मन्द, कोई उच्च, कोई स्पष्ट, कोई अस्पष्ट और कोई सर्वशुद्ध तो कोई साधारण रूप से बोलता है, एक तो यह विवाचाः का अभिप्राय है।

वाक् को वाणी अर्थात् भाषा के अर्थ में लें तो विवाचाः का अर्थ विविध भाषाओं को बोलने वाला होगा। एक ही भाषा में वक्ता के स्तर भेद से अनेक भेद हो सकते हैं जो नानाधर्मा पद से संकेतित हैं। दूसरा अर्थ एक ही भाषा के प्रान्त आदि के प्रभाव से विभिन्न रूप हो जाते हैं, इन्हें बोलने वाला जनसमुदाय । विवाचाः का तीसरा अर्थ है एक दूसरी से भिन्न अनेक भाषाएँ।

भाषा की इस प्रकार की अनेक विभिन्नताओं में लिपिकर्तृक विभिन्नता नहीं है इसमें क्या विनिगमना है?

वेद में लिपि के लेखन के प्रकार भी निर्दिष्ट हैं :-

..........काव्यं छन्दो अङ्कुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपंक्तिश्छन्दो विष्टारपंक्तिश्छन्दः क्षुरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः । (शुक्ल यजुर्वेद माध्य. सं. १५/४)

यह कण्डिकांश शुक्ल यजुर्वेद काण्व संहिता (१६.५-६) में भी इसी रूप में है वहाँ क्षुर और भ्रज को एक कर 'क्षुरोभ्रजश्छन्दः' के रूप में पढ़ा गया है। मैत्रायणी संहिता (२.८ (७).१८) में क्षुरोभृजश्छन्दः, काठक संहिता (१७.१८) में भी क्षुरोभ्रजश्छन्दः, कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता (४.३.१२.३३) में क्षुरोभृज्वान् छन्दः है।

यह सम्पूर्ण विश्व छन्दोवितान है, छन्दोबद्ध है। वेद ने इस विविधता का ज्ञान कराते हुए उपलक्षण रूप में अनेक वस्तुओं को छन्द कहा है। उसी क्रम में काव्य अङ्कुप अक्षरपंक्ति पद-पंक्ति विष्टार पंक्ति क्षुर भ्रज और क्षुरोभ्रज को छन्द बताया गया है। वेदमन्त्र प्रायः आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, आधिलौकिक, आधियाज्ञिक आदि अनेक अर्थों को लिये हुए होते हैं। यदि इनके अन्य अर्थ प्राचीन और नवीन विद्वानों ने लिये हैं तो उनसे निषेध नहीं है किन्तु भाषा के संदर्भ में अक्षरपंक्ति, पद पंक्ति, विष्टारपंक्ति, क्षुरपंक्ति और भ्रज पंक्ति का सम्बन्ध लिपि से ही है।

अक्षर के अनेक अर्थ हैं। वाङ्मयार्णव में-

अक्षरस्तु शिवे विष्णौ खड्ंगे वेधस्यथाक्षरा।
वाच्यना क्ली विधौ धर्मे वर्णेऽम्बुतपसोः क्रतौ ।। १९

अक्षराख्ये सामभेदे खे मोक्षे मूलकारणे।
परमाणौ ब्रह्मणि च प्रणवे तु नृषण्डयोः ।। २०
त्रि निःक्षरे चाविनाशिन्यपिचापरिणामिनि ।

इन पद्यों द्वारा प्रायः गिना दिये गये हैं। पुल्लिंग में अक्षर शब्द शिव, विष्णु खड्ग और ब्रह्मा का नाम है। जब इसका प्रयोग स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में होता है तो वाणी-भाषा के अर्थ में आता है। नपुंसक लिङ्ग में इसके अर्थ विधि, धर्म, वर्ण, जल, तप, यज्ञ, सामविशेष, आकाश, मोक्ष, मूलकारण, परमाणु और ब्रह्म हैं। प्रणव अर्थ में इसका प्रयोग पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में होता है। जब विशेषण के रूप में यह क्षरशून्य अविनाशी और अपरिणामी अर्थ में आता है तो विशेष्य के अनुसार यह तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है।

क्षर भाव का जिसमें अभाव हो वह अक्षर होता है इस अर्थ में यह वर्ण के ध्वनिगत रूप को कभी नहीं बताएगा। वागिन्द्रिय से उत्पन्न होते ही वर्ण या अक्षर तत्काल नष्ट हो जाता है यह क्षर भाव है अक्षर भाव नहीं। आकाश का गुण होने से इसकी वैज्ञानिक रूप में नित्यसत्ता भले ही हो, श्रव्य विषय न होने से व्यावहारिक सत्ता तो निश्चित ही नहीं रहती है। उसमें कालव्याप्ति नहीं है। अक्षर का अक्षरत्व लिपिगत रूप से ही है। अक्षर ध्वनियों को कालिक व्याप्ति देता है, प्रकट होने के साथ ही नष्ट हो जाने जैसी बात यहाँ नहीं है।

वैयाकरण अक्षर शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति निमित्त से भिन्न-भिन्न रूप में करते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि - **अक्षरं न क्षरं विद्या दश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्। (१.२)** के रूप में प्रथम व्युत्पत्ति 'न क्षरम्-अक्षरम्' नञ् तत्पुरुष समासमूलक ही प्रस्तुत करते हैं जिससे उनका अभिप्राय लिपिगत रूप को ही प्राथमिकता देता प्रतीत होता है। होना भी चाहिये वे 'लिख अक्षर विन्यासे ' (६.८५) धातु से सुपरिचित हैं। सभी वैयाकरणों को यह धातु समान रूप से ग्राह्य है। अक्षर रूप में विन्यास करना, अक्षर का विन्यास करना लिख धातु के अर्थ हैं। देवी देवताओं के ध्यानगम्य रूप को स्थायी अंकित करना अक्षर रूप में विन्यास करना है यही कारण है कि देवशब्द का एक पर्यायवाचक लेख शब्द भी है। ध्वनि को अक्षरों की आकृति के माध्यम से अक्षर रूप देना लिपि के सन्दर्भ में लिख धातु का अर्थ स्पष्ट ही है। यह भाव महावैयाकरण भर्तृहरि ने भी व्यक्त किया है-

यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः ।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत् ।। (१.२०)

अक्षर स्मृति चिह्न का अर्थ लिपियाँ हैं। अक्षर रूप स्मृतिचिह्न तथा अक्षर-अनश्वर-स्मृति के लिए चिह्न दोनों ही अर्थ यहाँ अभीष्ट हैं।

महामुनि दूसरी व्युत्पत्ति भी व्याप्ति अर्थ को लेकर **'अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्'** के रूप में देते हैं। इसका अर्थ है कि अक्ष धातु से सरन् प्रत्यय से अक्षर निष्पन्न होता है। स्वादिगण में 'अशूङ् व्याप्तौ' क्रयादिगण में 'अश भोजने' धातु है अतः **'अश्नुते अश्नाति वा अक्षरम्'** जो व्याप्ति रखता है, पालन करता है और खाता है वह है अक्षर। अक्षर काल व्याप्ति के साथ-साथ स्थान व्याप्ति भी रखता है। ध्वनि काकखग आदि उच्चारित रूप न काल व्याप्ति रखता है न स्थान व्याप्ति। ध्वन्यङ्कन में भी आधार टेप आदि पर अङ्कन स्थान और काल की व्याप्ति रखता है, वहाँ भी चिह्न ही हैं अपने ढंग के।

ऐसा नहीं है कि वैयाकरणों की अथवा महामुनि पतञ्जलि की यह व्युत्पत्ति नवीन है। ब्राह्मणों में प्रदत्त निर्वचनों में से कतिपय निरुक्त (१३.१२) में भगवान् यास्क ने दिये हैं :-

अक्षरं न क्षरति, न क्षीयते, वाक्-क्षयो भवति, वाचोऽक्ष इति वा।
अक्षो यानस्याञ्जनात् तत्प्रकृतीतरद् वर्तन सामान्याद् इति ।।

अक्षर क्षर भाव को प्राप्त नहीं होता है, क्षीण नहीं होता है, वाक् का क्षय-निवास या घर होता है, वाक् का अक्ष-धुरा होता है। जैसे अञ्जन भाव से यान का अक्ष अक्ष है वैसे ही यह-अक्षर समाम्नाय भी वाणी का अक्ष है, सम्पूर्ण वाक् इसी में प्रोत होती है।

जैसे अक्षर के विविध चरित पक्षों को लेकर प्राचीन मनीषियों ने भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति निर्वचन दिये हैं वैसे ही इसके स्वरूप के अन्य पक्षों को लेकर भी निर्वचन किये जा सकते हैं जैसे अक्षे रमते इति अक्षरम्, अक्ष में अर्थात् आँख में जो रमे आँखों को प्रिय लगे वह अक्ष-र अक्षर है। अक्षि की भाँति अक्ष भी नेत्रवाचक है। वाल्मीकि रामायण में नेत्र के लिए अक्ष का प्रयोग हुआ है :-

सर्वे तेऽनिमिषैरक्षै स्तमनुद्रुतचेतसः ।

इसका पदच्छेद है 'सर्वे ते अनिमिषैः अक्षैः तम् अनुद्रुतचेतसः' अब अर्थ स्पष्ट है कि राम के पीछे दौड़ते हुए चित्त वाले वे अयोध्या के नागरिक अपलक नयनों से उन्हें देख रहे थे। आँखों में रमना दृश्य वस्तु का ही सम्भव है फलतः अक्षर नाम वर्णसमाम्नाय के लिपिगत रूप का बोधक है।

अक्षि या नेत्र में रमने के लिए जिस मूर्तभाव की अपेक्षा है उस अर्थ को भी अक्षर शब्द देता है। पाणिनि पठित एक धातु 'अक्षू व्याप्तौ संघाते च' (१.४२५) है। अक्षति संघातीभावं प्राप्नोति इति अक्षरम्, संहनन-शरीर के अभाव वाला जो संहनन को प्राप्त कर लेता है वह है अक्षर, ध्वनि में संघात का अभाव है वह अमूर्त है, अक्षर उस अमूर्त का मूर्तीभाव है अतः अक्षर है। अक्ष धातु से उणादि का अरन् प्रत्यय लगने से अक्षर शब्द बनता है।

न केवल इतना ही अपि तु अक्षर शब्द वर्णमाला के संख्या और स्वरूप की भी इयत्ता निर्णीत करता है। अ उन समस्त वर्णों का ज्ञापक है जो एक ध्वनि को असंयुक्त रूप से बताते हैं। ये वर्ण अ से ह तक हैं। क्ष कोई पृथक् ध्वनि नहीं है अपितु क्ष का लिखने हेतु एक लिपि चिह्न मात्र है। यह 'क्ष' अक्षर सभी संयुक्त अक्षरों का ज्ञापक है। जैसे अ का प्रथम स्थान है वैसे ही क्ष का भी प्रथम स्थान है क्योंकि इसका प्रथम अक्षर क व्यञ्जनों में प्रथम है। इस प्रकार अ और क्ष आदि वर्ण होते हुए सभी असंयुक्त संयुक्त ध्वनियों के ग्राहक हैं इसलिए अक्ष शब्द सभी अक्षरों का बोधक संक्षिप्त नाम है। अक्ष शब्द से तद्धित का र प्रत्यय लगा कर बनाया गया 'अक्षर' शब्द वर्णमाला अर्थ देता है। तान्त्रिक वाङ्मय में इसी अर्थ में 'अक्षमाला' अथवा इसके पर्यायवाचक अक्षस्रक् जैसे शब्दों का प्रचुर प्रयोग है। मेरुतन्त्र कहता है-

'अकारादिक्षकारान्ता प्रोक्ता चाक्षरमालिका' (६/२९२)

वर्ण को केवल वर्णस्वरूप के रूप में प्रस्तुत करने के लिए 'कार' प्रत्यय लगा दिया जाता है। अकार अर्थात् अ, हकार ह, क्षकार क्ष, इस प्रकार इस श्लोकार्ध का अर्थ होता है अ से क्ष तक के अक्षरों की माला 'अक्षमाला' है। इस संज्ञा को ध्यान में रखने पर तन्त्रवाङ्मय के पदों का अर्थ समझ में आ जाता है। जैसे मेरुतन्त्र और शारदातिलक में वर्णेश्वरी के ध्यान का पद्य है-

अक्षस्रजं हरिणपोतमुदग्रटङ्कम्,
विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम्।
अर्द्धेन्दु मौलिमरुणाभरविन्दवासां ।
वर्णेश्वरीं प्रणमत स्तनभारनम्राम् ।। (मे. ५/३२१, शा.५/३२)

यहाँ अक्षस्रज् अ से क्ष तक के अक्षरों की अक्षमाला है। इसी भाँति श्री पद्मपादाचार्य ने भी 'अक्षमाला-टंक पुस्तक धरां ध्यायेत्' कहा है। यहाँ तो स्पष्ट ही अक्षमाला शब्द है। कहीं छन्द की दृष्टि से इसे इस रूप में कहा गया है जहाँ स्वतः व्याख्या हो जाती है। भुवनेश्वरी स्तोत्र में सकलागमाचार्य चक्रवर्ती श्री पृथ्वीधराचार्य का पद्य है :-

'आदिक्षान्त विलास लालसतया तासां तुरीया तु या'

अ+आदि आदि, क्ष+अन्त क्षान्त, इस प्रकार आदि क्षान्त शब्द अकार से प्रारम्भ कर क्षकार तक के वर्षों वाली 'अक्षमाला' को व्याख्यात्मक रूप में बता रहा है।

आगम के ये विचार निगम मूलक ही हैं। परवर्ती काल की प्रवृत्ति नहीं हैं। अस्यवामीय सूक्त के मन्त्र का-

'अक्षरेण मिमते सप्तवाणीः ' (ऋ. १.१६४.२४)

अक्षर-अक्षमाला से सप्त-सर्पणशील-वाणियों को मानबद्ध किया जाता है निर्मित किया जाता है, स्पष्ट है कि लिपि आश विनाशी वाक को स्थायी रूप देती है। इसी सूक्त में अन्यत्र भी अक्षर विवेक है जो परमब्रह्मरूप अक्षर तत्त्व के साथ-साथ शब्द ब्रह्मरूप इस अक्षर तत्व का प्रतिपादक है।

अपने इन समस्त अर्थों को समाहित किया हुआ ही अक्षर शब्द 'अक्षरपंक्तिः छन्दः' भाग में है। अक्षर के साथ आया पंक्ति शब्द विचारणीय है। पंक्ति दृश्य और मूर्त पदार्थ की ही होती है। दन्तपंक्ति, वृक्षपंक्ति, बक पंक्ति (बगुलों की कतार) जैसे शब्द भाषा में खूब प्रचलित हैं। भावपंक्ति, विचारपंक्ति जैसे प्रयोग भाषा में प्रचलित नहीं हैं। वेद का अक्षरपंक्ति शब्द निश्चित ही अक्षरों के मूर्तरूप का समर्थक है जो लिपि बिना सम्भव नहीं है। रेखा या लेखा भी पंक्ति ही है किन्तु इनमें स्वल्प सा अर्थकृत भेद है। पंक्ति सान्तरा होती है, पंक्ति के सदस्य पृथक् पृथक् अन्तर के साथ एक सीध में होते हैं। रेखा या लेखा निरन्तरा-बिना अन्तर के होती है।

पदक्रम पद समूह पदव्यत्यय जैसे शब्द तो वाणी के उच्चारित रूप के साथ चल सकते हैं अतः चलते भी हैं किन्तु पदपंक्ति का प्रयोग सम्भव नहीं है अतः वाच्यरूप में इसका प्रयोग नहीं होता है। पदपंक्ति शब्द लिखित रूप को ही बताता है।

गद्य लेखन में तो पदपंक्तियों से सभी का परिचय है ही, यहाँ जो कुछ पढ़ने में आ रहा है पंक्ति रूप में ही है। पद्य में पद शब्द का अर्थ पाद या चरण होता है। साधारणतया छन्द चार चरणों के ही होते हैं, कुछ छन्द ५, ६ और अधिक भी चरणों के होते हैं। वर्णों या मात्रा की एक निश्चित संख्या पद की संरचना करती है। इस पद या पाद का ज्ञान उच्चारण में लय अथवा विराम से हो जाता है किन्तु लिखित रूप में स्पष्टता तभी रहती है जब एक पाद को एक पंक्ति में ही लिखा जाता है। इस रूप में लेखन 'पद पंक्ति' है, पदों की संख्या के अनुसार पंक्ति की संख्या पदपंक्ति का अभिप्राय है। मितव्ययता की दृष्टि से छन्द के पूरे पादों- अर्थात् पूरे छन्द को एक अथवा दो या तीन पंक्तियों में लिखा जा सकता है। यदि एक पंक्ति में लिखा गया है तो पाद की दृष्टि से तो छन्द चतुष्पद ही है भले

ही लेखन एक पंक्ति में हुआ हो, इसे एक पंक्ति छन्द नहीं कह सकते हैं।अतः पद और पंक्ति का अर्थगत अन्तर स्पष्ट है तथा पंक्ति शब्द छन्द के लिखित रूप को ही बताता है।

गद्य में भी व्याकरण प्रक्रिया वाक्यों की गणना करती है, लेखन प्रक्रिया में पंक्तियों की गणना भी होती है। एक वाक्य एक से अधिक पंक्तियों में भी लिखा जा सकता है। इसी भाँति कई वाक्य एक पंक्ति में भी लिखे जा सकते हैं। वाक्य में अन्तर नहीं होता है किन्तु लेखन में अन्तर पंक्तियों की संख्या की दृष्टि से हो सकता है। पत्र, जिस पर लिखा जा रहा है, छोटे आकार का हो तो लिखने में पंक्तियाँ अधिक होंगी, आकार बड़ा हो तो वही विषय कम पंक्तियों में ही समाविष्ट हो सकेगा। स्थूल और सूक्ष्म अक्षरों के विन्यास का अन्तर भी पंक्तियों की संख्या के अन्तर में कारण होगा।

इससे यह स्पष्ट है कि वाक्य अमूर्त भी हो सकता है तथा मूर्त भी, किन्तु पंक्ति सदैव मूर्त ही होती है। वेद का 'पदपंक्तिश्छन्दः' जैसा उल्लेख लिपि रूप के बिना सम्भव ही नहीं है।

यद्यपि ये उद्धरण लिपिसत्ता के प्रतिपादन में यथेष्ट हैं, तथापि अथर्ववेद से कुछ प्रत्यक्ष उल्लेख भी प्रस्तुत हैं जिनमें लिख धातु से निष्पन्न क्रिया तथा कृदन्त पदों का साक्षात् प्रयोग है। अथर्ववेद के बीसवें काण्ड में १२७ से १३६ तक १० सूक्त कुन्ताप सूक्त कहलाते हैं। इनमें से एक मन्त्र- 'क एषां कर्करी लिखत्' (१३२/८) है, संस्कृत का व्यावहारिक वाक्य रूप सन्धि विच्छेद बिना 'कः एषाम् कर्करीः अलिखत्' होगा। इसका अर्थ है किसने इन (अश्वों) के देह पर कर्करियाँ लिखी हैं। ऋग्वेद में भी खिल सूक्तों में यह मन्त्र है वहाँ कर्करिम् एक वचन का रूप है।

धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं अतः यहाँ लिख धातु का अर्थ लिखना न लेकर और कुछ भी लिया जा सकता है जैसे आयुर्वेद में विशेषकर शल्य चिकित्सा के प्रसंग में लिख का अर्थ कुरेदना, खुरचना आदि में कोई लिया जाता है। आयुर्वेद के ऐसे कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं :-

किलासानि सकुष्ठानि लिखेल्लेख्यानि बुद्धिमान् । (२५/५९)
लेखनच्छेदन स्वेदवमनैः शैष्मिकं जयेत्। (२३/१७१)

ये दोनों पद्यार्ध चरकसंहिता चिकित्सा स्थान के हैं। प्रथम का अर्थ है बुद्धिमान् चिकित्सक लेख्य अथवा लेखनीय किलास और कुष्ठ का लेखन करे। द्वितीय का अर्थ है- वैष्मिक विष को लेखन, छेदन, स्वेदन और वमन से जीते।

इसी भाँति चरक से पूर्ववर्ती ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में भी लिख धातु का ऐसा ही प्रयोग है- 'धारा

लेखनानामर्धमासूरी' (सूत्रस्थान ८/१०) लेखन के लिए व्यवहार में आने वाले शस्त्रों या यन्त्रों की धार अर्धमासूरी हो।

लेख्याश्चतस्रोरोहिण्यः किलासमुपजिह्विका......२५/९ यहाँ लेखन योग्य रोगों की तालिका है, उसका यह प्रारम्भिक पद्यार्ध है जिसका भाव है कि चारों रोहिणियाँ किलास और उपजिह्विका लेख्य लेखन योग्य हैं।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी संहिता में एक मन्त्र भाग है-

'द्यां मा लेखीः अन्तरिक्षं मा हिंसीः' (५.४३)

शतपथ ब्राह्मण पूर्व भाग का अर्थ करते हुए कहता है कि दिवं मा हिंसीः अर्थात् दिव् या द्यौ की हिंसा मत करो। यहाँ लिख खुरच खुरच कर नष्ट कर डालने के अर्थ में है, जैसा कि आजकल प्रदूषण के साधनों के बाहुल्य से हम करते जा रहे हैं।

इसी भाँति काव्यों में भी ऐसे प्रचुर प्रयोग हैं। इससे कोई निषेध नहीं है कि लिख के भिन्न-भिन्न अभिप्राय गर्भित अनेक अर्थ हैं किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि लिख के अक्षरविन्यास रूप अर्थ का इससे निषेध होता है। जैसे ये अर्थ हैं वैसे ही वह भी अतः कर्करीलेखन का अभिप्राय यही है कि कर्करी का आकार चित्रित करना।

इस अर्थ में यही एकमात्र प्रयोग स्थल मिलता तो बात जैसे तैसे मानी भी जाती कि यहाँ लिख अपने प्रसिद्ध अर्थ अङ्कन करने में नहीं है। द्यूत प्रसंग का एक मन्त्रार्ध देखिये-

'अजैषं त्वां संलिखित मजैषमुत संरुधम्।' अथर्व. ७.५०.५

भली-भाँति समान रूप से लिखित हे कृत! मैंने तुम्हें जीत लिया है जो तुम मेरे अवरोध रहे हो। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि के समान आकार प्रकार रूप रंगवाले पाँसों में उनके कृत त्रेता आदि का ज्ञान जिससे होता है वह उन पर विद्यमान लेख से ही होता है।

जैसे अश्व पर कर्करी चिह्न लेख है वैसे ही गो पर मिथुन (जोड़े) का चिह्न लेख है, यह अथर्ववेद के-

'लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि' ६/१४१/२

इस मन्त्रार्ध से ज्ञात होता है। अतः इन मन्त्रांशों में लेख का ही विषय है, फलतः वेद में लिपि की सत्ता सिद्ध है।

◆◆◆